

किसकी संस्कृति कैसा अध्याय

- डॉ सिद्धार्थ शंकर

इन दिनों आलोचना के क्षेत्र में संस्कृति-विमर्श का जोर है। पहले समालोचक रचना एवं उसके पाठ में सन्निहित मानों, मूल्यों एवं सामाजिक आशयों को पढ़ने का प्रयास करता था। आज संस्कृति-विमर्श के दौर में काल एवं परिवेश में उपस्थित तथा स्वयं को सिरजते, सिद्धते एवं बदलते समाज के सांस्कृतिक मूल्यों का विवेचन एवं विश्लेषण किया जाता है, उसकी दिशा की पड़ताल की जाती है। आलोचना के इस दिशा प्रवाह को मैनेजर पाण्डेय भी रेखांकित करते हैं। उनके अनुसार “पिछले कुछ दशकों से दुनिया भर की आलोचना के केन्द्र में संस्कृति आ गई है। इस स्थिति में आलोचना के क्षेत्र में सांस्कृतिक मोड़ कहा जा रहा है। यह भी कहा जा रहा है कि संस्कृति ही हर चीज को अनुशासित कर रही है।”¹

इस प्रकार संस्कृति को ही ‘पाठ’ मानकर आलोचनाओं का दौर चल पड़ा है। ऐसे समय में रामधारी सिंह ‘दिनकर’ की ‘संस्कृति के चार अध्याय’ नामक बहुचर्चित एवं बहुप्रशंसित पुस्तक पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। कारण यह है कि इस पुस्तक में निहित दिनकर के सांस्कृतिक चिन्तन और आज के संस्कृति-विमर्श के कुछ सामान्य सूत्र हैं। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन कुछ रोचक निष्कर्षों को जन्म दे सकता है।

आज संचार की विकसित प्रणाली ने दुनिया को वैश्विक गाँव में तब्दील कर दिया है। इस वैश्विक गाँव के सूचना-संजाल की आभासी (वर्चुअल) दुनिया में भारतीय, अमेरिकी, फ्रेंच, थाई, जर्मन, मलय, बर्मी, अरब, मंगोल, चीनी, स्पेनी आदि अनेक संस्कृतियों के लोग अन्तर्क्रिया कर रहे हैं। इनके बीच पारस्परिक सम्मिलन के अवसर पहले की अपेक्षा अब अधिक हैं। इन सबके धर्म, आचार-विचार, रहन-सहन एवं आदतें अलग हैं। अब नये वैश्विक परिवेश ने इन्हें साथ ला दिया है। इनके बीच भौगोलिक एवं आभासी अर्थात् इण्टरनेट की दुनिया ने सन्निकटता के अवसर बढ़ा दिये हैं। अब इनके बीच सद्भाव सम्प्रति एक वैश्विक जरूरत है, क्योंकि यदि यह संभव न हो सका तो सैमुअल पी0 हटिंग्टन की परिकल्पनाओं वाला सभ्यता के संघर्ष वाला सिद्धान्त हमारी दुनिया का भविष्य बन सकता है। इसलिये दुनिया को यदि क्रूसेड, जिहाद या धार्मिक सांस्कृतिक संकीर्णतावाद से बचाना है तो इसके लिए सांस्कृतिक परिक्षेत्र में पनप रही स्थितियों एवं उससे उत्पन्न मनोदशाओं को पहचान करके उनका हल ढूँढना होगा। जब तक वैश्विक स्तर पर इन संकीर्णताओं का प्रतिरोध नहीं होगा तब तक एक उचित एवं न्यायसंगत वैश्विक व्यवस्था का सपना साकार नहीं होगा। इसलिए सांस्कृतिक समन्वय एवं सामंजस्य आज एक वैश्विक जरूरत बन चुकी है।

इसी कारण ‘बहुसांस्कृतिकता’ को लेकर अब नये सिरे से चर्चाएँ होने लगी हैं। इसके पक्ष एवं विपक्ष दोनों के स्वर हमें बराबर सुनने को मिल रहे हैं। इसका एक पक्ष यह है कि व्यवस्था चलती रहनी चाहिए इसके लिये यदि धार्मिक संकीर्णता, सामंतवाद एवं सामाजिक कुरीतियों से समझौता भी करना पड़े तो कोई बात नहीं है। दूसरा पक्ष बहुसांस्कृतिकता का विरोधी है। इसके अनुसार बहुसांस्कृतिकता के साये तले कुछ सांस्कृतिक अहस्तक्षेप एवं समन्वय के नाम पर इसे बर्दाश्त नहीं किया जा सकता है। अयान अली हिरणी जैसी स्त्रीवादी लेखिका इसी सवाल को पश्चिमी सभ्यता एवं इस्लाम के संदर्भ में स्त्रियों को लेकर संकीर्णता को उजागर करती है। उनके अनुसार अमेरिका की बहुसांस्कृतिक-उदारता के साये तले कट्टरपंथी इस्लामी पितृसत्तात्मक ताकतें सक्रिय हो रही हैं। इससे स्त्री स्वाधीनता और अधिकारों को बहुत बड़ा खतरा है।

बहरहाल ज्ञातव्य है कि आज सांस्कृतिक बहुलतावादी विमर्श के आलोक में हम भारतीय संस्कृति के चिरपरिचित शब्द सांस्कृतिक समन्वयवाद को किस रूप में देखते हैं। विचारणीय बिन्दु यह है कि क्या ‘बहुसांस्कृतिकता’ भारतीय संस्कृति में प्रचलित प्रत्यय ‘सांस्कृतिक समन्वयवाद’ का पर्याय है या उसी शब्द की मिलती-जुलती अर्थच्छायाओं का कोई नया संस्करण है या उससे अलग अर्थध्वनियों वाला शब्द है। उल्लेखनीय है कि बहुसांस्कृतिकता में पृथक्त्व या विशिष्टता को सहेजा जाता है। उसे ‘एप्रिसिएट’ करते हैं बल्कि उसे सेलीब्रेट करते हैं। कालान्तर में विरोधी, विपरीत या अलग मूल्यों को समायोजित करते हुए शान्तिपूर्ण साहचर्य की बात करते हैं। इस प्रकार बहुसांस्कृतिकतावादी विमर्श उत्तरआधुनिक स्थितियों का प्रतिफलन है। संचार-साधनों के

बढ़ने के कारण जिस प्रकार विभिन्न धर्मों व समूहों के लोग एक दूसरे के करीब आये हैं, उसके चलते उनके बीच साहचर्य, सहयोग और समभाव परम आवश्यक है।

अब आज की बहुसांस्कृतिकता और सांस्कृतिक बहुलवाद के सापेक्ष 'संस्कृति के चार अध्याय' में दिनकर द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक समन्वयवाद की अवधारणा को जान लेना जरूरी है। दिनकर इस अवधारणा को चींटियों और मधुमक्खियों के रूपक के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। वे लिखते हैं, "समन्वय का एक उदाहरण चींटियाँ उपस्थित करती हैं, जब वे अनेक प्रकार के अनाज कणों को एक स्थान पर एकत्र कर देती हैं। किन्तु यह समन्वय वास्तविक समन्वय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनेक अनाजों के दाने एक बरतन में एकत्र किये जाने पर भी अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं।"¹² आज का बहुसांस्कृतिकवाद कुछ इसी तरह के सांस्कृतिक सम्मिलन की बात करता है जिसमें विभिन्न संस्कृतियाँ अपनी विशिष्टता एवं पृथकत्व के साथ अस्तित्वमान् रहते हुए सांस्कृतिक सम्मिलन की बात करती हैं।

तदुपरान्त भारत के सांस्कृतिक समन्वय के लिये मधुमक्खी वाले रूपक को दिनकर स्वीकार करते हैं। इसे व्याख्यायित करते हुए वे बताते हैं कि "भारत में संस्कृतियों का जो समन्वय हुआ है, वह उससे (चींटियों) से) कहीं ऊँचा, महीन और बारीक है। भारत में समन्वय की प्रक्रिया चींटियों की प्रक्रिया नहीं, अपितु मधुमक्खियों की प्रक्रिया रही है। चींटियाँ अनाज के कणों को एकत्र तो कर देती हैं, किन्तु उनका एक दूसरे में विलय नहीं कर पातीं। किन्तु मधुमक्खियाँ अनेक फूलों से रस जमा कर उसे ऐसा रूप दे देती हैं कि कोई एक फूल वहाँ सबसे ऊपर नहीं बोलता। भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों के योग से बना हुआ मधु है और यद्यपि, उसके ऊपर आर्यों का लेबुल बहुत स्पष्ट है, किन्तु, आर्यों का महत्व उतना ही है जितना मधु-निर्माण में मधुमक्खियों का होता है।"¹³ यह रही सांस्कृतिक समन्वय पर दिनकर की मधुमक्खीवादी दृष्टि। हालांकि संस्कृति को लेकर अस्मितामूलक विमर्शकारों और सांस्कृतिक बहुलतावाद के पैरोकारों को चींटियों वाला समन्वय अधिक न्याय संगत लगेगा। लेकिन कविवर दिनकर को जिस तरह के सांस्कृतिक समन्वय का मधु चाहिये, उससे उन्हें चींटियों वाले समन्वय प्रणाली को खारिज करना ही था।

इसी दृष्टिकोण के कारण 'संस्कृति के चार अध्याय' में उन्होंने 'हिन्दू संस्कृति की पाचनशक्ति'¹⁴ का सर्ग उल्लेख किया है। इसकी पाचन-शक्ति को 'बड़ी ही प्रचंड'¹⁵ मानते हुए वे इसका प्रतिपादन करते हैं कि उसकी यह क्षमता अनेक जातियों को एक संस्कृति में पचा जाने वाली है। इसके लिये दिनकर औषधियों के काढ़े का उदाहरण देते हैं। उनके अनुसार "कई प्रकार की औषधियों को कड़ाह में डालकर जब काढ़ा बनाते हैं, तब उस काढ़े का स्वाद हर एक औषधि के अलग-अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न हो जाता है। असल में उस काढ़े का स्वाद सभी औषधियों के स्वादों के मिश्रण का परिणाम होता है। भारतीय संस्कृति भी इस देश में आकर अनेक जातियों की संस्कृतियों के मेल से तैयार हुई है।"¹⁶

अब भारतीय संस्कृति की यह विशिष्टता उसकी शक्ति हो सकती है लेकिन उसकी यही शक्ति उन लोगों के मन में भारी भय और आशंका का भाव भी जगाती है, जो अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक अस्मिता को लेकर बेहद संवेदनशील हैं और कदाचित् हाशिये पर होने के कारण भयग्रस्त भी हैं। इतना ही नहीं अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक अस्मिता को लेकर उग्र एवं हिंसक समूह भी इस 'काढ़ा' या 'मधु' में शामिल नहीं होंगे। ऐसे समूह राष्ट्रकवि दिनकर द्वारा प्रस्तावित मधुमक्खियों के रूपक वाले सांस्कृतिक समन्वय की मधुवादी व्याख्या को कभी पसंद नहीं करेंगे। वैसे आजादी के बाद से या उससे पहले से ही भारत के सत्ताधारी मध्यवर्ग ने समांगीकरण और समन्वय का यही मार्ग अपनाया है। इससे इस देश की एक मुख्यधारा परिकल्पित कर ली गयी है और इस धारा से अलग लोगों को भटका हुआ मानकर मुख्य धारा में लाने की कोशिश की जाती है। अब सत्ता एवं उन दिनों के सत्ता की विचारधारा के प्रति दिनकर की निकटता की बात किसी से छिपी नहीं है। वे ही युद्ध की बात भी करते हैं, शान्ति के अग्रदूत भी बन जाते हैं, वे आह्वान भी करते हैं, उद्बोधन भी। अब यह सब भाषा की सत्तात्मक अनुगूँजें ही तो हैं और पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा 'संस्कृति के चार अध्याय' की लम्बी प्रस्तावना से ही 'सुस्पष्ट' था कि उस पुस्तक को उन दिनों की संस्कृति के सत्तात्मक सरणियों में ही

रहना था। यह अनायास नहीं है कि पंडित नेहरू को लगता है कि “मेरे मित्र और साथी दिनकर ने अपनी पुस्तक के लिये जो विषय चुना है, वह बहुत ही मोहक और दिलचस्प है।”⁷ इस प्रकार जिस मित्र एवं साथीभाव का निर्वहन नेहरू ने किया था दिनकर उससे पीछे कैसे हटते? वे उसी सत्ता-सरणी की उपज थे, नाभिनालबद्ध थे।

हालांकि सांस्कृतिक वैविध्य एवं वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए उसे सेलीब्रेट करने का भाव अब तक इस देश में नहीं रह सका है, लेकिन फिर भी आज दिनकर की इस मान्यता के पुरस्कर्ता कम ही मिलेंगे कि “हिन्दू-संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को पीकर अपनी ताकत बढ़ायी है।”⁸ कारण यह है कि ‘पीकर’ और ‘पचाकर’ सांस्कृतिक समन्वय स्थापित करने वाली अवधारणा अब नहीं चलने वाली है। आज सूचनाओं के अविरोध प्रवाह के द्वारा संसार का छोटे-से-छोटा सांस्कृतिक समूह भी अपनी अस्मिता और उसके अभिज्ञान के प्रति सजग हो उठा है। वह अपनी वैश्विक उपस्थिति जताना चाहता है। ऐसे में उस पहचान को रेखांकित करते हुए उसे उचित महत्व देने के बजाय ‘पीने’ और ‘पचाने’ वाली समन्वयवादी अवधारणा अब नहीं चलने वाली है।

वैसे पं० नेहरू भी भारतीय संस्कृति द्वारा ‘पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता’⁹ पर अभिभूत थे। वी०एस० नायपॉल ने भारत की इस क्षमता का जिक्र किया है और बताया है कि जैसे पेरू अथवा मैक्सिको यूरोपीय संस्पर्श से नेस्तनाबूद हो गये, भारत नहीं हुआ। भारत ने “हमेशा विजेताओं को ही अपने में एब्जाब कर लिया है।”¹⁰ लेकिन नॉयपाल इस ओर भी संकेत करते हैं कि अपने भीतर कई विजातीय तत्वों को समाहित करने के कारण इसके भीतर “सच्चा इतिहासबोध नहीं जग सका।”¹¹ इतिहासबोध जो कि वस्तुतः कुछ खो देने का बोध है और इससे मरहूम होता जा रहा है।¹² वे इस गुण को ‘भारतीयता’ की आत्मा का विरलन (डायल्यूशन) मानते हैं।

खैर, जो भी हो यह दिनकर का जन्मशताब्दी वर्ष है। यह वर्ष हमें यह अवसर मुहय्या करा रहा है कि हम दिनकर से एवं स्वयं से (क्योंकि हम सब संस्कारों से समन्वयवादी हैं) यह सवाल पूछें कि संस्कृतियाँ जो समन्वय न कर सकें, उनका हमारे अपने सांस्कृतिक पैराडाइम में क्या स्थान होगा? क्या वे एक करकती एवं कसकती उपस्थिति होंगी जिन्हें हम भविष्य में मौका पाकर समाहित कर लेंगे? या हम उनको समायोजित करने के फिराक में खुद ही उन जैसे हो जायेंगे? यह सब कुछ हमारी समन्वयवादिता के समक्ष कुछ सवाल हैं। क्या यह संभव नहीं है कि जिस तरह हम धर्म के जेहादियों, संस्कृति के अग्रदूतों से अनुरोध करते हैं कि काफिरों और भटके हुआओं को भी जीने का हक दो, उसी प्रकार समन्वयवादियों से भी निवेदन है कि जो असहमत हों एवं समन्वय न कर सकें उन्हें पूरी लोकतांत्रिक असहमति के साथ उनके सम्मान की रक्षा करते हुए उनके अस्तित्व को सेलीब्रेट किया जाय। इससे हमारी अपनी इयत्ता भी सुरक्षित रह सकेगी।

प्रकृति में वैविध्य महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है। जैवविविधता आज दुनिया के जीव वैज्ञानिकों के लिये उसे बचाये और बनाये रखने की प्रमुख परियोजना बन चुकी है, तो क्या समाज एवं संस्कृति के क्षेत्र में विविधता एवं विशिष्टता को प्रोत्साहन एवं प्रश्रय नहीं दिया जाना चाहिए। आज जरूरत इस बात की है कि हम अपने तथाकथित बुनियादी सिद्धान्तों एवं मूल्यों पर भी प्रश्न खड़े करें। जिस प्रकार यूरोप आज अपने ज्ञानोदयकालीन मूल्यों, उपलब्धियों एवं आधुनिकता पर प्रश्नचिह्न खड़ा करके उत्तर-आधुनिक सन्दर्भों की ओर बढ़ चला है। उसी तरह एक जीवित एवं सतत् आलोचनाशील संस्कृति के रूप में हमें अपने सातत्यता, शाश्वतता एवं समन्वयवादिता पर पुनर्विचार करना चाहिए।

कारण यह है कि युग आज पुनः संकीर्णतावाद के हिंसक गर्त में जा चुका है। इन्हीं स्थितियों के कारण वैश्विक आतंकवाद पनप रहा है। कुछ ऐसी ही स्थिति दिनकर के समय में भारत में थी। उन दिनों धर्म के आधार पर देश का बँटवारा हो चुका था। लेकिन बँटवारे के खून के धब्बे और उसकी चीखें अभी लोगों की स्मृतियों में ताजी थीं। दिनकर के समय में भाषा व क्षेत्रीय संकीर्णताएँ भी सिर उठा रहीं थीं। इसीलिए सत्ता के स्तर पर समन्वयवाद की विचारधारा का प्रसार जरूरी था। लेकिन विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि भारतीय

उपमहाद्वीप के धर्म पर आधारित विभाजन के बावजूद भारत का संकट अब भी विद्यमान है। अब भी जब तब आशंका एवं बैर की तलवारें खिंच जाती हैं। दिनकर भारत की सामासिक संस्कृति के मार्ग में आ रहे अड़चन को भी बड़ी ईमानदारी एवं साफगोई के साथ बताते हैं। उनके अनुसार, “भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि जिस नेता को हिन्दू न्यायी समझते हैं, मुसलमान उसके विरुद्ध हो जाते हैं तथा जिस नेता को मुसलमान मानने लगते हैं, हिन्दू उसे मार डालते हैं। अकबर और महात्मा गाँधी, ये दो नेता इस बात के प्रोज्ज्वल प्रमाण हैं।”¹³ ‘संस्कृति के चार अध्याय’ का दिनकर का सांस्कृतिक चिन्तन इसी धार्मिक विभाजन को पाटने के उद्देश्य से उपजा प्रतीत होता है। कहने का आशय यह है कि इन दोनों धर्मावलम्बियों के बीच समन्वय एवं सम्मिलन पर उनका विशेष जोर था।

‘संस्कृति के चार अध्याय’ के ‘लेखक का निवेदन’ भाग में दिनकर लिखते हैं कि इस देश में ‘हिन्दू और मुसलमान हैं जो देखने में अब भी दो लगते हैं किन्तु उनके बीच सांस्कृतिक एकता विद्यमान है। जो उनकी भिन्नता से कहीं अधिक प्रबल है। दुर्भाग्य की बात है कि हम इस एकता को पूर्णरूप से समझने में असमर्थ रहे हैं। यह कार्य राजनीति नहीं, साहित्य द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए।”¹⁴ साहित्य के जरिये सांस्कृतिक समन्वय के सत्कार्य को सम्पन्न करने के घोषित उद्देश्य से ही उन्होंने ‘संस्कृति के चार अध्याय’ नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक की पूरी योजना में वे अपने सांस्कृतिक समन्वयवाद के लक्ष्य से कहीं भी विचलित नहीं होते हैं। समन्वयवाद का जिज्ञा वे बार-बार करते हैं और भारत के इतिहास, धर्म, समाज, आस्था एवं रीति-रिवाजों से उदाहरण देकर इसे पुष्ट भी करते हैं। इस पुस्तक के समन्वयवादी लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए ही उन्होंने कहा था कि ‘वर्तमान पुस्तक’ राजनीति से पृथक साहित्य द्वारा हिन्दू-मुसलमान के बीच समन्वय की ‘दिशा में प्रयास’¹⁵ है। इस प्रकार जो पुनीत कार्य राजनीति या उन दिनों के सत्ता प्रतिष्ठान द्वारा नहीं हो सका था, उसी को साहित्यिक मोर्चे पर कर डालने का बीड़ा रामधारी सिंह ‘दिनकर’ ने उठाया था।

उनकी इसी महत्वाकांक्षा का प्रतिफल है- “संस्कृति के चार अध्याय”। इस पुस्तक के बारे में दिनकर कहते हैं कि “यह पुस्तक विद्वानों का उच्छिष्ट चुनकर तैयार की गयी है।”¹⁶ और इसका लक्ष्य “भारतीय संस्कृति को समझना है।”¹⁷ दिनकर के अनुसार यह मूलतः सांस्कृतिक इतिहास और इसके भीतर निहित सांस्कृतिक चिन्तन की पुस्तक है। इस पुस्तक के माध्यम से वे ‘जनसाधारण’ को संस्कृति क्या है, इसका विकास कैसे होता है और आगे इसका रूप क्या होगा, यह समझाना चाहते थे। उनकी अपनी घोषणा के अनुसार यह ‘इतिहास ग्रन्थ नहीं, साहित्य ग्रन्थ’ था और इस पुस्तक से उम्मीद करते हैं कि वह पाठक से “हमारी सामासिक संस्कृति की प्रतिमा अंत तक बात करती चले।”¹⁸ अब यह बात भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि काव्य को ही अपना क्षेत्र मानने वाले दिनकर का इतिहास के माध्यम से संस्कृति-चिंतक रूप विशेष रूप से चर्चित हुआ। सर्वविदित है कि दिनकर मूलतः कवि हैं, लेकिन ‘संस्कृति के चार अध्याय’ लिखने की अन्तः प्रेरणा ‘एक समय’ में इतिहास के विद्यार्थी होने का मोह था। वे इस मोह को छोड़ नहीं पाये। इसीलिए उन्होंने इतिहास की पुस्तकें पलटें और इस अध्ययन को “संस्कृति के चार अध्याय” के रूप में परोस दिया।

इस पुस्तक में ‘चार’ अध्यायों की योजना भी दिलचस्प नहीं है। इस पुस्तक में उन्होंने भारत के इतिहास में ‘चार-क्रान्तियों’ की परिकल्पना की है। उनके अनुसार पहली क्रांति तब हुई जब आर्य भारत आये। दूसरी क्रांति महावीर और गौतम बुद्ध के समय घटित हुई। तीसरी क्रांति “उस समय हुई जब इस्लाम, विजेताओं के धर्म के रूप में भारत पहुँचा और इस देश में हिन्दुत्व के साथ उसका सम्पर्क हुआ।”¹⁹ चौथी क्रांति “जब भारत में यूरोप का आगमन हुआ तथा उसके सम्पर्क में आकर हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों ने नवजीवन का अनुभव किया।”²⁰ अब ये सब क्रांतियाँ कैसे थीं - समझ पाना कठिन है। गौतम और महावीर द्वारा धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में परिवर्तन को थोड़ी देर के लिये क्रांति मान भी लें, विदेशी आक्रमण को क्रांति मानना स्वयं क्रांति की आभा को धूमिल करता है। यही नहीं एक भारतीय के रूप में विदेशी आक्रमण को क्रांति मान लेने की मजबूरी या दबाव क्या हमारी आत्महीनता की ओर संकेत नहीं करती है? अब इस बात पर आश्चर्य और गहरा दुःख भी होता है कि दिनकर जैसा बड़ा राष्ट्रकवि विदेशी आक्रमण को क्रांति कैसे कह सकता है?

अपने पराजय का ऐसा बेशर्म और अकुंठ उत्सव अन्यत्र नहीं देखा जा सकता। विदेशी आक्रमण किसी देश की विवश किन्तु अनिवार्य ऐतिहासिक नियति हो सकती है। उस आक्रमण के द्वारा धर्म एवं समाज के क्षेत्र में कुछ नया घटित हो सकता है एवं साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में कुछ आक्रान्ताओं का योगदान सराहनीय हो सकता है, लेकिन यदि विदेशी आक्रमण को क्रांति कह देंगे, तो क्रांति को क्या कहेंगे? और भारत के सन्दर्भ में यह ऐतिहासिक सच्चाई रही है कि जितने विदेशी आक्रान्ता आये हैं, उन्होंने आमूल-चूल परिवर्तन नहीं किया। सभी ने यहाँ के स्थानीय सामन्तों से हाथ मिलाकर अपनी राजसत्ता की नींव को पुख्ता किया। मुगलों ने राजपूत राजाओं को साथ लिया तो अंग्रेजों ने जमींदारों से हाथ मिलाकर पुरानी व्यवस्था का पोषण ही किया।

खैर, पुनः दिनकर के संस्कृति चिन्तन पर वापस लौटते हैं। कहना न होगा कि सांस्कृतिक समन्वयवाद 'संस्कृति के चार अध्याय' का अन्तर्निहित सिद्धान्त है। दिनकर की मूल आस्था यह रही है कि "भारतीय संस्कृति शुरू से अन्त तक सामासिक रही है।"²¹ इसकी बड़ी वजह यह मान्यता है कि "उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम देश में जितने हिन्दू बसते हैं, उनकी संस्कृति एक है।"²² अब सारे हिन्दुओं की संस्कृति एक हो, यह बात गले नहीं उतरती है। कारण यह है कि अपने रोजमर्रा के अनुभवों से इस बात को सभी जानते हैं कि हिन्दू परस्पर विभाजित और कई बार एक दूसरे को नेस्तनाबूद कर देने की हद तक संघर्षरत रहे हैं। चुनावों की सत्तात्मक गणित तथा शासन और प्रशासन में पदों के बंदरबाँट ने उनके बीच विभाजन को और गहरा किया है। एक ही गाँव में प्रभुता के लिए संघर्षरत शक्तिशाली जातियों के बीच वर्चस्व व दमन का जो खूनी खेल चलता है, वह अफ्रीका के किसी कबीलाई संघर्ष से कम घिनौना नहीं है। यह हमारी सामाजिक सच्चाई है। अब बिहार को देख लें - इसके कई जिलों में संघर्षरत रणवीर सेना, कुँवर सेना, लोरिक सेना - ये सब हिन्दुओं की किस संस्कृति की वाहिनियाँ हैं? इन सारी चीजों से अनजान रहकर एकता एवं समन्वय की बात करना अपने जख्म को ढँकना और टालना है। इसमें वास्तविकता से रू-ब-रू होने जैसी बात नहीं दिखती। अपने लिये निरन्तर हिंसक एवं आत्मविभाजित समाज में समन्वय एवं सहयोग की बातें किताबी ही लगती हैं।

फिर भी दिनकर भारत के सांस्कृतिक समन्वयवाद की प्रवृत्ति से इतने मुग्ध हैं कि दुनिया को भारत का यह अनुभव नये विश्व के निर्माण के लिये बाँटना चाहते हैं। वे स्पष्ट करते हैं, "संसार के सामने सबसे बड़ा सवाल पेश है, वह यह है कि दुनिया की अनेक जातियों, अनेक वादों और विचारों तथा अनेक संस्कृतियों के बीच समन्वय स्थापित करके हम विश्व संस्कृति का निर्माण कैसे कर सकते हैं? स्पष्ट है, "संसार को उसी मार्ग को अपना पड़ेगा जिस मार्ग पर चलकर भारतवर्ष अपने यहाँ विभिन्न संस्कृतियों के बीच एकता या मेल बिठाता रहा है।"²³ अब यह सच्चाई से एक तरह से मुँह छिपाना हुआ। जब राह में अपना ही विद्रूप चेहरा दिखाने के लिए इतिहास ने आईना रख दिया हो तो उससे मुँह मोड़ना क्या कहा जायेगा? इस ऐतिहासिक सच्चाई को विस्मृत करके अपनी समन्वयवादी महानता का गुणगान करना, अपनी पीठ थपथपाना आत्मसंतोष के लिए एक अच्छा ख्याल हो सकता है, लेकिन इससे सच को झुठलाया नहीं जा सकता। क्या यह सच नहीं है सदियों की समन्वय साधना के बावजूद सन् 1947 में हम धर्म आधारित विभाजन में शवों को गिन रहे थे। अपनी अहिंसावृत्ति एवं उसके प्रतिफलन समन्वयवाद के बावजूद हम इस देश में विभाजन के खूनी अध्याय को नहीं रोक पाये थे। डॉ० अमर्त्य सेन लिखते हैं कि "हम लोगों में से अनेकों के जेहन पर विभाजन के पूर्व की घटनायें ताजा होंगी। स्वाधीनता के ठीक पहले पूरा उपमहाद्वीप क्रूर हिन्दुओं और हिंसक मुसलमानों में विभक्त हो गया।" उनके अनुसार, "इसके बाद जो नरसंहार हुआ तथाकथित 'सच्ची अस्मिता अभियान' का प्रतिफल था जो व्यापक मनुष्यता के तर्क से परे था।"²⁴

आज यह एक सच्चाई है कि कराची, लाहौर, ढाका, मुल्तान, पेशावर हमारी सांस्कृतिक चेतना के अंग हैं, लेकिन वे हमारे नहीं हैं और हम उनके नहीं हैं। सदियों से समन्वय की साधना कर रहे इस देश ने धर्म-आधारित जितना बड़ा जनसांख्यिकीय विस्थापन एवं नरसंहार देखा था, वैसा दुनिया में कहीं नहीं घटित हुआ। उस दौर की अमानवीयता की न जाने कितनी कही या अनकही कहानियाँ अब भी भारतीयों के चेतन एवं अचेतन पर विद्यमान हैं। इन सबके बावजूद तुरा यह है कि "विश्व की भावी एकता की भूमिका भारत की सामासिक संस्कृति में है। हम संसार के सभी देशों, सभी जातियों एवं सभी विचारों के बीच एकता स्थापित

कर सकते हैं। बड़े पैमाने पर जैसी समस्या आज विश्ववादियों के सामने खड़ी है, छोटे पैमाने पर कुछ वैसी ही समस्या थी, जिसका समाधान भारतवर्ष ने निकाला था। आश्चर्य होता है कि आखिर किन कारणों से दिनकर एक बड़ी ऐतिहासिक सच्चाई की ओर ध्यान नहीं देते हैं।

वैसे भारत के सम्बन्ध में दिनकर की ये मान्यताएं हमें तत्क्षण तो गर्व से भर देती हैं, लेकिन क्या ये हमें सच्चाई से भी साक्षात्कार कराती हैं। उनकी इन मान्यताओं को लेकर हम विश्वनेता का झूठा बोध पाल सकते हैं, उससे आत्मतुष्ट होकर खुश हो सकते हैं, लेकिन सवाल यह है कि क्या इससे स्वयं अपने देश की वास्तविक स्थितियों का सामना कर पायेंगे। सच्चाई की आँधी के प्रति शूतुरमुर्ग जैसी दृष्टि के कारण ही भारत आज तक अपनी मूल समस्याओं से मुँह चुराता रहा है। कहने को तो यह दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है और यह देश दुनिया के प्राचीनतम गणतांत्रिक परम्परा का वारिस भी है, लेकिन जातिवाद, सम्प्रदायवाद एवं संगठित अपराध जितने घिनौने रूप में यहाँ सामने आता है वह इस बड़े और प्राचीन लोकतंत्र के चेहरे को गँदला ही करता है।

सन्दर्भ

1. मैनेजर पाण्डेय : आलोचना की सामाजिकता, भूमिका से।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 5
3. वही, पृ० 5, 4. वही, पृ० 38
5. वही, पृ० 38 6. वही, पृ० 38
7. वही, पृ० 5 8. वही, पृ० 99
9. वही, पृ० 9
10. वी०एस० नायपॉल : एन एरिया ऑफ डार्कनेस, पृ० 263
11. वही, पृ० 177 12. वही, पृ० 177
13. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 313
14. वही, पृ० 13 15. वही, पृ० 13
16. वही, पृ० 13 17. वही, पृ० 13
18. वही, पृ० 14 19. वही, पृ० 12
20. वही, पृ० 12 21. वही, पृ० 13
22. वही, पृ० 13 23. वही, पृ० 39-40
24. अमर्त्य सेन : 'आग्युमेन्टेटिव इण्डियन्स', पृ० 179